आधुनिकता का लबादा: प्रभुत्व एवं प्रतिरोध का द्वंद्वात्मक विमर्श

शिवनारायण सिंह अनिवेद

राजनीति की दुनिया में हम एक व्यक्ति-एक वोट और एक वोट-एक मूल्य के उसूल को अपनाने जा रहे हैं। लेकिन, सामाजिक और राजनीतिक जीवन में हम अपने आर्थिक और सामाजिक ढांचे के कारण एक वोट-एक मूल्य के उसूल को नकारते ही रहेंगे। अंतर्विरोधों की इस दुनिया में हम आखिर कब तक जिएंगे?

–डॉ. भीमराव अंबेडकर, 25 नवंबर 1949
संविधान सभा में भाषण

26 फरवरी 2001 को नई दिल्ली में द्वितीय 'दोराब टाटा स्मारक व्याख्यान माला' में भारतीय अस्मिता (इंडियन आइडेंटिटी) के प्रश्न पर बोलते हुए नोबेल पुरस्कार विजेता अर्थशास्त्री अमर्त्य सेन ने कहा कि 'अस्मिता खोज की वस्तु नहीं है—चाहे वह अतीत की हो या वर्तमान की—वरन् अस्मिता, तर्क (रीजन) द्वारा चुनाव का विषय है, भारतीय अस्मिता की समझ एवं विश्लेषण के संदर्भ में बहुलता (प्लुरलिटी) एवं चयन के मुद्दे बहुत महत्वपूर्ण हैं।'' अपने विश्लेषण में रवींद्रनाथ टैगोर के प्रसिद्ध कथन ''Idea of India itself mitigates against the intense consciousness of the separateness of one's own people from others'' के आधार पर धार्मिक-सांस्कृतिक विविधता, बहुलता वाले भारतीय परिप्रेक्ष्य में, अस्मिता के इकहरेपन की अवधारणाओं से सेन ने असहमति व्यक्त की। आधुनिक भारत में हम एक साथ अपने गांव, नए अपनाए गए शहर (विस्थापित), पुराने संस्कारों, आधुनिक विचारों

के साथ, बहुल-अस्मिताओं एवं बहुल-आधुनिकताओं के युग में जी रहे हैं। सुनील खिलनानी का सूत्र वाक्य "भारत एक है, उसके विचार अनेक हैं" भी इसी स्थापना को सुदृढ़ करता है।

इस लेख में, आजाद भारत में हुए सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक परिवर्तनों पर दो पुस्तकों (दीपंकर गुप्त की *मिथ आधुनिकता* और सुनील खिलनानी की *भारतनामा*) के माध्यम से प्रकाश डालने का प्रयत्न है। जहां सुनील खिलनानी ने आर्थिक-राजनीतिक परिवर्तनों पर ध्यान केंद्रित रखा है, वहीं दीपंकर गुप्त ने सामाजिक-सांस्कृतिक परिवर्तनों पर। सुनील खिलनानी ने भारतीय राजनीति एवं अर्थनीति में स्वतंत्रता के बाद आए परिवर्तनों का वस्तुपरक विश्लेषण प्रस्तुत किया है। 'भारत की अवधारणा' की पृष्ठभूमि में प्राक् औपनिवेशिक ब्राह्मणवादी वर्ण-व्यवस्था तथा राज्य के संबंधों की चर्चा करते हुए औपनिवेशिक काल में आए आधुनिक परिवर्तनों के मद्देनजर राज्य का समाज के केंद्र में आने-जाने का विवरण भी इस पुस्तक में है।

जहां खिलनानी, बाटमअप (नीचे-से-ऊपर) दृष्टिकोण अपनाते हैं—वहीं गुप्त टापडाउन (ऊपर-से-नीचे)। दीपंकर गुप्त ने आधुनिकता के मानकों (पैरामीटर्स)—व्यक्ति की गरिमा, सर्वव्यापी प्रतिमानों में आस्था, जन्मजात विशेषाधिकारों या विशेषाधिकारों के स्थान पर व्यक्तिगत उपलब्धि का उन्नयन और सार्वजनिक जीवन में जवाबदेही के परिप्रेक्ष्य—से आज के भारत को देखा है और दर्शाया है। उनका कहना है कि हम अभी आधुनिक नहीं हुए हैं एवं हमारा मध्य वर्ग (पवन कुमार वर्मा का 'महान मध्यवर्ग') आधुनिक नहीं बल्कि 'पश्चिम के नशे' (वेस्टाक्सिकेटेड) में है। दीपंकर गुप्त के आधुनिकता के मानकों को फ्रांसीसी क्रांति के तीन मूल वैचारिक आधारों से उत्प्रेरित देखा जा सकता है। गुप्त के साथ सबसे बड़ी समस्या यह है कि वे दो सौ वर्षों की पश्चिम में विकसित आधुनिकता की कसौटियों पर बार-बार पचास वर्षों में हुए भारत के सामाजिक-सांस्कृतिक परिदृश्य के परिवर्तनों को देखते हैं और लगातार भारतीय समाज के गैरआधुनिक (अनमॉडर्न) पाते हैं। दीपंकर गुप्त का दृष्टिकोण मूलतः युद्धोत्तर अमेरिकी समाजशास्त्री टालकाट पार्सन्स का व्यवहारवादी (फ्रंक्शनलिस्ट) दृष्टिकोण है। मैक्स वेबर से प्रभावित होकर पार्सन्स ने आधुनिकता के मानक तय किए थे। इन्हीं के आधार पर दुनिया को आधुनिक एवं परंपरागत (पिछड़े) खेमों में बांटा गया। इसी समाजशास्त्रीय तर्क को कसौटी बनाकर परंपरागत (पिछड़े) देशों में 'विकास' की अवधारणा का जन्म हुआ तथा पचास के दशक में विकास का मूल मंत्र बना 'आधुनिकीकरण'। उसके बाद जैसे-जैसे विकास अपने लक्ष्यों से पीछे-पीछे छूटता गया, हर दशक के मंत्र बदलते रहे। साठ के दशक में 'हरित क्रांति', सत्तर के दशक में 'वृद्धि के साथ न्याय', अस्सी के दशक में 'संरचना से तालमेल' (स्ट्रक्चरल एडजस्टमेंट) तथा नब्बे के दशक में 'भूमंडलीकरण और उदारीकरण'।

परंपरागत भारत में राजनैतिक एवं आर्थिक आधुनिकीकरण

सुनील खिलनानी ने औपनिवेशिक काल के भारत पर हुए प्रभाव के कारण, नए प्रभुवर्ग का उदय एवं नए भारतीय प्रभुवर्ग द्वारा, भारत के गौरवशाली अतीत का आविष्कार तथा भारतीय राष्ट्रीय स्वतंत्रता आंदोलन द्वारा भारत की अवधारणा को पुष्ट करने के प्रयासों का विस्तार से वर्णन किया है। टैगोर, गांधी, नेहरू, अंबेडकर, जिन्ना, सावरकर, सुभाषचंद्र बोस, अरविंदो, भगत सिंह के योगदानों का उन्होंने विशेष उल्लेख किया है, जिन्होंने अपने-अपने ढंग से भारत की अवधारणा की खोज की। वैसे देखा जाए तो कानून द्वारा 1899 में भारत के वस्तुगत रूप का निर्धारण हुआ।

खिलनानी के अनुसार, उत्तर-औपनिवेशिक भारतीय सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक परिवर्तन के लिए राष्ट्र-राज्य को प्रभावी औजार के रूप में स्थापित करना नेहरू की सबसे महत्वपूर्ण विरासत है। सार्विक मताधिकार पर आधारित लोकतांत्रिक चुनाव प्रणाली, महलनोबीस मॉडल के अनुसार 'मिश्रित-अर्थव्यवस्था' पर आधारित विकास प्रणाली, इसके मूल स्तंभ थे। नेहरू की अर्थनीति ब्रिटिश अर्थशास्त्री कीन्स के विचारों पर आधारित थी, जबकि उनकी राजनीति यूरोप में प्रचलित समाजवादी लोकतंत्र पर। लेकिन जैसे-जैसे लोकतांत्रिक-भागीदारी ने समाज में अपनी पैठ फैलानी शुरू की वैसे-वैसे राज्य पर समाज के दबाव और मांगें बढ़ती गईं। अतएव उत्तर नेहरू कांग्रेस दौर में अर्थनीति का राजनीतिकरण किया गया तथा राजनीति में जितनी तेजी से नारों-वादों (उदाहरणार्थ-गरीबी हटाओ) का दौर शुरू हुआ उतनी ही तेजी से लोगों का मोह भंग भी शुरू हुआ। 1975 को आजाद भारत का निर्णायक मोड़ माना जा सकता है। इसमें राज्य पर समाज का दबाव इतना बढ़ गया कि समाज को नियंत्रित करने के लिए राज्य को निरंकुश शासन प्रणाली

(इमरजेंसी) लागू करनी पड़ी। लेकिन जय प्रकाश नारायण के आंदोलन में नए राजनीतिक समूहों द्वारा लोकतंत्र की बहाली 1977 में हुई।

1977 के बाद राजनीति के क्षेत्रीय समुदाय एवं जाति पर आधारित राजनीतिक दलों का उभार बढ़ता चला गया। कुछ बुद्धिजीवी इसे भारत के पिछड़ेपन की बात कहकर निरस्त करते हैं। लेकिन मैं खिलनानी की इस बात से पूर्णतया सहमत हूं कि ये भारतीय अवधारणा की विभिन्न विचारधाराएं हैं, जो इस बात की पुष्टि करती है कि 'भारत एक है, परंतु उसके विचार अनेक हैं'। जैसे-जैसे राज्य पर समाज का दबाव और अर्थनीति पर राजनीति का प्रभाव बढ़ता गया एवं 'लाइसेंस-परमिट' राज्य अनुत्पादक साबित होने लगा, अतएव 1991 में 'उदारीकरण' के महलनोबीस, मनमोहन सिंह के नेतृत्व में एक बार फिर अर्थनीति को राजनीति से मुक्त करने के प्रयास शुरू हुए जो अभी जारी है—उदारीकरण, बाजारवाद, भूमंडलीकरण की नीतियों द्वारा। खिलनानी मानते हैं कि उदारीकरण में भ्रष्टाचार घटने के बजाय और बढ़ा है, तथा स्टाक एक्सचेंजों के घोटालों के मद्देनजर, राज्य का नियंत्रण कम नहीं हो सकता। प्रश्न है राज्य को और अधिक विश्वास-योग्य बनाने का।

यहां पर अंतोनियो ग्राम्शी का स्मरण करना अत्यंत सुसंगत होगा, जिन्होंने राष्ट्र-राज्य के आर्थिक (उदारीकरण) तथा कार्यकारी (अल्पकरण) का क्रियाओं के छद्म विभाजन को समाप्त किया। "यह कहा जाता है कि आर्थिक गतिविधि सिविल-सोसाइटी (नगर-समाज) की है तथा राज्य को इसे व्यवस्थित करने के लिए दखल नहीं देना चाहिए। मगर सत्य यह है कि सिविल सोसाइटी एवं राज्य में कोई अंतर नहीं। दोनों एक ही हैं। अतः यह स्पष्ट किया जाना चाहिए कि निर्बंध-बाजार व्यवस्था भी उसी राज्य-नियंत्रण का दूसरा रूप है, जो कानून एवं दमनकारी बल-प्रयोग द्वारा आर्थिक गतिविधियों को संचालित करता है।"

आधुनिकता, औद्योगिक पूंजीवाद तथा राष्ट्र-राज्य का ऐतिहासिक विकासक्रम

मेरे विचार में भारत तथा उपनिवेश रह चुके अन्य राष्ट्रों के साथ सबसे बड़ी समस्या है कि वे पचास-पचपन सालों में ही दो सौ वर्षों में यूरोप-अमेरिका में हुए औद्योगिकीकरण, राष्ट्र-राज्य के विकास, आधुनिकता, लोकतंत्र के विकास को, पूंजी की कमी की स्थिति में, कैसे प्राप्त करें। आज इस बात से कोई नहीं इंकार कर सकता कि वर्तमान विश्व, औद्योगीकरण की अर्थव्यवस्था पर आधारित है। चाहे वह पूंजीवादी सामाजिक संरचना हो, चाहे साम्यवादी। फर्क सिर्फ स्वामित्व तथा पूंजी एवं श्रम के पारस्परिक सत्ता-संबंधों का है, जिसके लिए दोनों व्यवस्थाएं, 'राज्य' रूपी औजार पर निर्भर हैं।

पूंजीवादी व्यवस्था हो या समाजवादी, राज्य सत्ता, सामाजिक वर्गों के समीकरणों द्वारा संचालित होती है। फ्रेंज काफ्का ने ट्रायल तथा मिशेल फूको ने अपनी दार्शनिक स्थापनाओं में सत्ता के अमानवीकरण की प्रवृत्तियों को बखूबी दर्शाया है। सवाल है कि भौगोलिक-राष्ट्रीय सुरक्षा और समुदायों-जातियों-वर्गों-व्यक्तियों के नियंत्रण के लिए कल्याणकारी राज्य हो या विकासशील राज्य। खिलनानी ने 'राज्य' के वर्ग-चरित्र का विश्लेषण नहीं किया है। उन्होंने एक तरह से स्वयंसिद्ध मानकर, राज्य को अनिवार्य माना है। उनके लिए सवाल सिर्फ उसके और विश्वसनीय होने का है। लेकिन यहां आजादी के वक्त महात्मा गांधी की आपत्तियों के बावजूद स्वतंत्र भारत द्वारा, पूर्व-औपनिवेशिक राज्य-तंत्र के हूबहू जारी रखने से आई खामियों का विश्लेषण करने की आवश्यकता है।

औद्योगिक क्रांति तथा सन् 1789 की फ्रांसीसी क्रांति से आरंभ हुए आधुनिक युग में पश्चिम के देशों में सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक संरचनाओं का आधारभूत रूपांतरण हुआ। इसके मुख्य माध्यम बने—राष्ट्र-राज्य, औद्योगिकरण, शहरीकरण, बाजार, लोकतंत्र, कानून का शासन इन सबको आधुनिकता के विभिन्न अवयवों के रूप में देखा जा सकता है। फ्रांसीसी क्रांति के तीन प्रमुख आयामों स्वतंत्रता, समानता और भाईचारा को ही मूलतः आधुनिकता का वैचारिक आधार माना जा सकता है। विज्ञान की खोजों के साथ औद्योगिकरण के दबाव ने अठारहवीं तथा उन्नीसवीं शताब्दी के कच्चे माल के स्रोत और उत्पादों की बिक्री के लिए पश्चिमी देशों द्वारा एशिया, अफ्रीका, लैटिन अमेरिका के देशों का औपनिवेशीकरण शुरू किया। इसी 'कोलोनियल एनकाउंटर' (उपनिवेशी सांठ-गांठ) में पूर्व-उपनिवेशों में आधुनिकता के

उपकरणों—राष्ट्र-राज्य, बाजार, लोकतंत्र, कानून-व्यवस्था, औद्योगिकरण का समावेश हुआ। उन्नीसवीं शताब्दी के अंत तक, खुद पश्चिम के पहले फ्रांस, फिर इंग्लैंड तथा बाद में अन्य देशों में इन संस्थाओं का पूर्ण विकास हुआ।

इतिहास की दृष्टि से आधुनिक 'राष्ट्र-राज्य' का जो स्वरूप है वह आधुनिक समाजों के सामाजिक राजनीतिक प्रबंध के औजार के रूप में औद्योगिक पूंजीवाद की रचना है। मैक्स वेबर के अनुसार वह एक 'बंद-राष्ट्र-राज्य' था, जिसने पूंजीवाद को विकास के अवसर प्रदान किए। कार्ल मार्क्स के अनुसार बुर्जुआ समाज को स्वयं को बाहरी संबंधों में राष्ट्रीयता के आधार पर स्थापित करना पड़ा तथा बृहत्तर समाज पर शासन के लिए स्वयं को राज्य के रूप में संगठित करना पड़ा। वैसे राष्ट्र-राज्य की भूमिका तथा चरित्र द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद के युग में काफी बदल गया।

औद्योगिक क्रांति के युग में पूंजीवाद का विस्तार तथा राष्ट्र-राज्य का विकास एक साथ हुआ। लेकिन 1945 से युद्धोत्तर भौगोलिक पुनर्गठन करके ब्रेटन वुड्स संस्थानों ने राष्ट्रीय अर्थतंत्र को समाप्त करके, पूंजी संचय के अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक प्रबंध तथा सामाजिक-राजनीतिक आयामों के राष्ट्रीय प्रबंध के आपसी टकराहट के माहौल में डाल दिया। युद्धोत्तर स्थितियों से उबरने के बाद पश्चिम में कल्याणकारी राज्य बनाकर श्रम को इसके और पूंजी के बीच समझौते करके उत्तरी खंड में रोका गया तथा दक्षिण में 'विकासोन्मुख राज्य' की कल्पना कर 1970 तक व्यवस्था-विरोधी क्रांतियों के भय से निबटा गया। अतः राष्ट्र-राज्य पर नव उदारवादी रीगन अर्थशास्त्र का हमला हुआ, जिससे राज्य पर बाजार के हावी होने का सिलसिला शुरू हुआ। इससे विश्व में आर-पार पूंजी के बहाव के लिए रास्ते तैयार हुए। 1990 के साम्यवादोत्तर युग में भूमंडलीकरण नए मिथक के रूप में उभरा। सोवियत तर्ज पर राज्य-प्रेरित समाजवाद के अवसान ने भूमंडलीकरण के टीना (विकल्प नहीं) फार्मूला की खुशफहमी को ऐसे ईजाद किया, मानो यह 1990 में ही जन्मा हो, जबकि व्यापार एवं वित्त का अंतर्राष्ट्रीयकरण औपनिवेशिक युग का एक अभिन्न अंग रहा है। अतः आधुनिकता, विज्ञान, राज्य, बाजार तथा भूमंडलीकरण संसार को बनाने-बिगाड़ने की औद्योगिक क्रांति के ही विभिन्न उपकरण हैं।

विनिर्मित अनिश्चितताएं: राजनैतिक-आर्थिक आधुनिकता एवं सामाजिक-सांस्कृतिक विपरंपराकरण

आधुनिकता, औद्योगिक पूंजीवाद तथा राष्ट्र-राज्य के उपरोक्त ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में भारतीय परिदृश्य का विश्लेषण करने पर हम पाते हैं कि भारतीय विमर्श में इस समय असमंजस की सी स्थिति है। कुछ का कहना है कि हम उत्तर-आधुनिक हो चुके हैं, कुछ का कहना है आधुनिक, और कुछ लोग अभी भारत को 'प्राक्-आधुनिक' मानते हैं। दीपंकर गुप्त का मानना है कि हम 'भ्रांत-आधुनिकता' के दौर में हैं। मेरी सबसे बड़ी असहमति दीपंकर गुप्त की इस अवधारणा से है कि बहुल-आधुकिताओं (मल्टीपल मॉडर्निटीज) के द्वारा हम भारत को व्याख्यायित नहीं कर सकते। जबकि वस्तुस्थिति यह है कि पूर्व-आधुनिक भारतीय समाज, दो सौ वर्षों का औपनिवेशिक समाज तथा पचास वर्षों का उत्तर-औपनिवेशिक भारत, आज एक साथ हमारे यहां मौजूद है। इस तरह भारत में आधुनिकता के बहुल-रूप एक साथ उपस्थित हैं। हमारी राजनैतिक-आर्थिक व्यवस्था, पूर्णतया आधुनिक (लोकतांत्रिक-औद्योगिक) है, जबकि सामाजिक-सांस्कृतिक संरचनाओं को आधुनिकता के 'ट्रिकिल-डाउन' (नीचे रिसाव) प्रक्रिया के भरोसे छोड़ दिया गया है। ऐसे में, खासतौर पर बहुलतावादी संस्कृति (मल्टी-कल्चरल) की स्थिति में बहुल-आधुनिकता स्वाभाविक है। हम एक साथ आधुनिक, राजनीतिक-आर्थिक व्यवस्था में हैं और आधुनिक-प्राक्-आधुनिक अर्थात् उत्तर-सामंती समाज-संस्कृति में।

वैसे दीपंकर गुप्त ने अपनी पुस्तक में कई उल्लेखनीय बातें उठाई हैं, जैसे कि हम चुनावों में जनप्रतिनिधि नहीं चुनते हैं बल्कि एक संरक्षक (पैट्रन) चुनते हैं, और आम जनता हमेशा पराश्रित ग्राहक (क्लाएंट) बनी रहती है, यह भी संसाधनों के अभाव की वजह से है। दीपंकर गुप्त की पुस्तक के विश्लेषण में 'पैट्रन-क्लाएंट' सिंड्रोम मूल तत्व के रूप में उभरता है, जो देश की राजनीति, प्रशासन, पूंजीपति वर्ग में व्याप्त भ्रष्टाचार का मूल कारण है। उनके अनुसार हमारे यहां पूंजीपति वर्ग कार्पोरेट एथिक्स (सामुदायिक नैतिकता) में विश्वास नहीं करता, बल्कि नियम तोड़ने में ही विश्वास करता है। देश के ज्यादातर बड़े पूंजीपति, परिवार (फेमिली) बिज़नेस में हैं। यहां दीपंकर गुप्त परिवार प्रणाली को भी भ्रष्टाचार प्रथा के

अस्टिफिकेशन (जावजीकरण) के तंत्र के रूप में देखते हैं। उन्होंने एक अन्य उल्लेखनीय बात उठाई है 'कन्यादान' सिंड्रोम की। भारत में 'दुल्हन लेने' वाला परिवार शक्तिशाली माना जाता है, इसीलिए भारतीय महिलाएं जब तक 'दुल्हन लाने वाले लड़के' की मां के रूप में पारिवारिक संस्था में अपना स्थान नहीं प्राप्त कर लेती हैं, परिवार में उनका स्वतंत्र अस्तित्व नहीं बन पाता।

जातीय एवं सांप्रदायिक आधार पर राजनीति की बढ़ती प्रवृत्ति को श्री गुप्त 'गैरआधुनिक' मानते हैं, लेकिन जैसे-जैसे आर्थिक आधार पर, हर जाति-समुदाय में धनी-निर्धन वर्ग खुलकर विकसित होंगे, वैसे-वैसे, लोकतंत्र ज्यादा आधुनिक एवं सेकुलर होता जाएगा। उनका यह कहना भी सही है कि चुनावों में विभिन्न जातियों के बीच गठबंधन सेकुलर हितों के लिए होता है न कि जातीय भाईचारे की वजह से। जाति व्यवस्था तो बिखर रही है, लेकिन जातीय-अस्मिता उभर रही है। उनके अनुसार भारतीय जातीय अस्मिता भिन्नता के सिद्धांत द्वारा संचालित होती है। जहां तक धर्म का मामला है, धर्म का राजनैतिक इस्तेमाल ज्यादा प्रमुख होता जा रहा है। गुप्त का कहना है कि हिंदू-धर्म के नाम पर मारने वाले तो हैं, मरने वाले नहीं हैं।' जबकि इस्लाम या इसाई धर्म में धर्म पर मरने वाले भी हैं। महाराणा प्रताप, शिवाजी, लक्ष्मीबाई इत्यादि मूलतः राजनीतिक व्यक्तियों के हिंदुत्व की समकालीन राजनीति द्वारा धार्मिक प्रतीकों के लिए प्रस्तुतीकरण को वे इनका राजनैतिक इस्तेमाल मानते हैं। उनके अनुसार सांप्रदायिक दंगे भी वहीं ज्यादा होते हैं जहां एक संप्रदाय (कोई भी) प्रभावी बहुलता में होता है, जिससे वह आश्वस्त होता है कि आक्रमण करने के बाद बच सकता है या अल्पसंख्यक अपना बचाव नहीं कर सकते। इसे वे 'मॉडनराइटाइजेशन' कहते हैं। हिंदुत्व को भाजपा का तथा वंशवाद को कांग्रेस का कोर मानते हैं।

भारतीय मध्यवर्ग को वे आधुनिकता के विकास में रोड़ा मानते हैं तथा निम्न-मध्यवर्ग को सच्ची आधुनिकता का वाहक। उधर पश्चिम में मध्यवर्ग ही आधुनिकता का वाहक रहा है। यहां वर्गीकरण की समस्या भी हो सकती है—जिसे गुप्त भारतीय मध्यवर्ग कहते हैं उसे मेरी समझ से भारतीय मापदंडों पर भारतीय उच्च-मध्यवर्ग कहना ज्यादा सही होगा। जिसे वे निम्न-मध्यवर्ग की संज्ञा देते हैं, उसे मध्यवर्ग कहा जा सकता है। दीपंकर गुप्त जैसे व्यवहारवादी (फंकशनलिस्ट) समाजशास्त्री के तर्क की दिक्कत ही इस बात में है कि वह रोग के लक्षणों पर विलाप करता है, जो अमेरिकी विमर्श का मूल पाठ है, लेकिन वह रोग की जड़ों में जाने की कोशिश भी नहीं करता और हर परिवर्तनकामी रेडिकल-संरचनात्मक (स्ट्रक्चरलिस्ट) विमर्श को आदर्शवादी, यूटोपिया या गैरलोकतांत्रिक, असफल साबित करके नकार देता है। कलावादी रचनाओं की तरह ऐसा समाजशास्त्रीय विश्लेषण, आकर्षक और उत्तेजक तो होता है मगर रूप से लेकर कथ्य तक में कहीं कोई स्पष्ट जीवन-दृष्टि (विजन) प्रस्तुत नहीं करता। दीपंकर गुप्त ने इस बात पर भी जोरदार एतराज किया है कि 'बहुल-आधुनिकता' (मल्टीपल मॉडर्निटीज) जैसी कोई स्थिति हो सकती है, जबकि ब्रिटिश समाजशास्त्री एन्थनी गिड्डेंस ने अपनी पुस्तक आधुनिकता के परिणाम (*कांसेक्वेंसेज आफ मॉडर्निटी*) में आधुनिकता के बरक्स 'विपरंपराकरण' (डिट्रेडिशनलाइजेशन) की बात उठाई है, जिसके तहत पश्चिम की अवधारणाओं पर आधुनिक होने की बजाय परंपरागत समाज आधुनिकता के उपकरणों—राष्ट्र-राज्य, औद्योगीकरण, बाजार, लोकतंत्र, मीडिया का अपनी स्थानीय आवश्यकताओं के अनुसार उपयोग भी करते हैं और उधर अपनी सामाजिक-सांस्कृतिक संरचनाओं में जड़ होती जा रही परंपराओं को सूखे पत्तों की तरह छोड़ते चले जाते हैं, जो समकालीन भारतीय सामाजिक-सांस्कृतिक यथार्थ के करीब लगता है। गिड्डेंस, की अवधारणा है कि हमने प्रकृति और बाह्य जीवन की अनिश्चितताओं पर पूर्ण नियंत्रण के लिए आधुनिकता का सहारा लिया, लेकिन आधुनिकता ने खुद अपने अनिश्चय और भय हमारे ऊपर थोप दिए हैं, जिसको वे मनगढ़ंत अनिश्चिताएं (मैनुफैक्चर्ड अन्सर्टेन्टीज) कहते हैं—जैसे ग्लोबल वार्मिंग, न्यूक्लीयर युद्ध का खतरा, जेनेटिकली माडिफाइड फूड, नारीवादी आंदोलन से सामाजिक पावर-स्ट्रक्चर (सत्ता-व्यवस्था) में उथल-पुथल इत्यादि।

अभी हाल में पूर्वी दिल्ली, गाजियाबाद तथा नोएडा में रहस्यमय नकाबपोश 'बंदर-मानव' की घटना के तरह-तरह के विश्लेषण सामने आ रहे हैं, लेकिन ब्रिटिश समाजशास्त्री गिड्डेन्स की भाषा में इन्हें आधुनिकता की मनगढ़ंत अनिश्चितताएं कहना ज्यादा तर्कसंगत होगा। संभव है कि किसी बंदर या जानवर ने किसी व्यक्ति को अंधेरे में धर-दबोचा हो, लेकिन वह भय, आधुनिक शहर में हाशिये

पर रहने वाले, मगर शहर की सुविधाओं से वंचित नागरिकों का सामाजिक भय या अफवाह बन बैठा हो और अब अपनी-अपनी बस्तियों में बिजली की मांग की पूर्ति जैसे आधुनिक समाधान पर आकर दूर हुआ हो। ऐसी घटनाओं को 'गैरआधुनिक' कहकर टालना समकालीन भारतीय सामाजिक यथार्थ की गंभीरता से मुंह मोड़ना है। आधुनिकता और परंपरा का द्वंद्व पश्चिम के देशों में भी हुआ। हां, वहां दो सौ सालों की अवधि में इनके द्वंद्व के निराकरण के लिए भी गुंजाइश निकलती रही। तीसरी दुनिया के देशों में, पश्चिम में हुए आधुनिकता के विकास के दो सौ वर्षों को बजाय पचास साल की अवधि में तय करना पड़ रहा है, वह भी 'असमान आर्थिक विश्व-व्यवस्था' में। जहां आधुनिकता का विकास पश्चिम में पूंजी के आधिक्य में हुआ एवं हो रहा है, वहीं तीसरी दुनिया में आधुनिकता का विकास, पूंजी की अपार कमी में हो रहा है। यही स्थितियां, भारतीय परिप्रेक्ष्य में बहुल-अस्मिताओं तथा बहुल-आधुनिकताओं की जनक हैं, जो व्यवहारवादी विश्लेषकों को विडंबनात्मक लग सकती हैं।

बहुल-आधुनिकताएं: प्रभुत्व एवं प्रतिरोध के द्वंद्वात्मक विमर्श

आज से बावन वर्षों पहले, 25 नवंबर 1949 को संविधान सभा में अपने भाषण में डॉ. भीमराव अंबेडकर ने इन्हीं स्थितियों को लक्ष्य करके कहा था कि 'अंतर्विरोधों की इस दुनिया में हम आखिर कब तक जिएंगे?' राजनीति की दुनिया में—हमने आधुनिक लोकतांत्रिक प्रणाली—सार्विक मताधिकार-एक व्यक्ति-एक वोट और एक वोट-एक मूल्य-अपनाया, लेकिन हमने अपने सामाजिक ढांचे में कोई मौलिक परिवर्तन नहीं किया। अर्थनीति में पहले चालीस वर्ष महलनोबीस मॉडल पर मिश्रित अर्थव्यवस्था तथा उसके बाद मनमोहन सिंह मॉडल पर 'उदारीकरण की अर्थव्यवस्था' अपनाई। समाज के हाशिए पर रहने वाले दलित समुदाय के तुष्टीकरण के लिए उत्तर-औपनिवेशिक राष्ट्र-राज्य के विधायिकाओं एवं सरकारी नौकरियों में आरक्षण की नीति पहले चालीस साल लागू करने के साथ—नब्बे के दशक में मंडल आयोग की सिफारिशें लागू करके अन्य पिछड़ी जातियों को भी आरक्षण प्रदान किया। लेकिन जिस तरह औपनिवेशिक युग में उपनिवेशी राज्य ने भारतीय समाज तथा संस्कृति या आधुनिकीकरण वाली समाज का मौलिक रूपांतरण न करके भारतीय समाज का सिर्फ व्यवहारवादी रूपांतरण किया। वही नीति उत्तर औपनिवेशिक राष्ट्र-राज्य ने भी कायम रखी। हमारी समकालीन सोच, सभ्यता, संस्कृति एवं समाज में व्याप्त अंतर्विरोधों, विरोधाभासों तथा विडंबनाओं का मूल कारण यही है। जिसके मर्म को डॉ. अंबेडकर ने 1949 में ही पहचान लिया था, लेकिन सुनील खिलनानी तथा दीपंकर गुप्त का प्रभुत्ववादी एवं फंक्शनलिस्ट विमर्श, इस गहराई को नहीं छू पाता। हमारी सामाजिक संरचना अभी भी सामंती-अर्धसामंती (पूर्व आधुनिक) है। सिर्फ उसका 'विपरंपराकरण' हो रहा है जबकि राजनीति तथा अर्थव्यवस्था, आधुनिकता के सिद्धांतों पर चलाई जा रही है। अट्ठारहवीं शताब्दी के अंत में फ्रांसीसी क्रांति तथा औद्योगिक क्रांति ने पश्चिम के देशों में सामंती सामाजिक ढांचे को सबसे पहले तोड़ा तथा समानता, स्वतंत्रता एवं भाईचारे के बुनियादी सिद्धांतों पर एक साथ सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक, आर्थिक रूपांतरण किया। भारत में दो सौ वर्षों के औपनिवेशिक राज्य ने अपने साम्राज्यवादी हितों के लिए अर्थव्यवस्था में औद्योगीकरण तथा शिक्षा-राजनीति में पुरबिया विमर्श (ओरिएंटलिस्ट डिस्कोर्स) के माध्यम से अपने शासन को सुचारू रूप से संचालित करने के लिए भारतीय प्रभुवर्ग का विकास किया; मैकाले के शब्दों में 'व्यक्तियों का ऐसा वर्ग, जो रंग और रक्त में तो भारतीय हो परंतु रुचि, अभिमत, नैतिक मानदंडों और प्रतिभा के मामले में अंग्रेज हो' (खिलनानी: 43)।

स्वतंत्रता के बाद भी राज्य-सत्ता, इसी प्रभावशाली भारतीय प्रभुवर्ग के हाथों में बनी रही। अतएव आजादी के बाद भी समाज का रूपांतरण आधुनिकता के मूल सिद्धांतों—व्यक्तिवाद, तार्किकता, समानता के आधार पर नहीं हुआ। लेकिन आजादी के बाद राजनीति तथा अर्थनीति के आधुनिकीकरण के तहत, लोकतांत्रिक भागीदारी, सार्विक मताधिकार, पंचायती राज, विकास के विकेंद्रीकरण तथा खासकर उत्तर-इमर्जेंसी भारत में केंद्र तथा राज्यों की सत्ता में विभिन्न दलित-पिछड़े वर्गों की भागीदारी ने सत्ता तथा समाज के संबंधों में द्वंद्वात्मकता का विकास किया। दलित तथा स्त्री-मुक्ति के प्रतिरोध के आंदोलनों ने भारतीय प्रभुवर्ग के प्रभुत्व को नैतिक-बौद्धिक वर्चस्व (हेजमनी) हासिल करने से रोका।

1999 में इंग्लैंड के मैनचेस्टर विश्वविद्यालय में किए गए अपने शोध 'डिकंस्ट्रक्टिंग द हेजेमनी ऑफ द स्टेट: द डायलेक्टिक्स ऑफ डामिनेशन एंड रेसिस्टेंस', में मैं इसी निष्कर्ष पर पहुंचा कि भारतीय सामाजिक-सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य में, राज्यसत्ता का समाज के साथ रिश्ता, ग्राम्शी के मैटाफर (रूपक) 'हेजेमनी' (वर्चस्व) के प्रिज्म से देखने से साफ-साफ दिखता है। आधुनिकता का परंपरागत भारतीय समाज पर सबसे प्रमुख प्रभाव यही पड़ा है, कि औपनिवेशिक काल में भी स्त्री तथा दलित-मुक्ति के आंदोलनों की सुगबुगाहट शुरू हो गई थी, जिसे राष्ट्रीय स्वतंत्रता आंदोलन ने भी अपने साथ शामिल कर लेने की कोशिश की। आजाद भारत में शुरू हुई लोकतांत्रिक भागीदारी ने धीरे-धीरे हर बीतते दशक में दलित-दमित जन समूह को जागरूकता प्रदान की। आज उत्तर औपनिवेशिक भारत में, प्रभावशाली वर्ग (डामिनेंट क्लास) एवं प्रभावहीन (डामीनेटेड-सबाल्टर्न) वर्ग के बीच सत्ता-संघर्ष प्रभुत्व एवं प्रतिरोध के द्वंद्वात्मक संबंधों की धुरी पर, अनवरत गतिमान है। इसे पूर्णतया आधुनिक प्रतिरोध के आंदोलन में अभी फलीभूत होना है। जिस तरह आजादी के आंदोलन ने देशी अस्मिता को प्रतिरोध के वर्चस्व के रूप में औपनिवेशिक राज्य को बेदखल करके आजादी पाई, उसी तरह समकालीन भारत में दलित-दमित वर्ग के प्रतिरोध की सुगबुगाहट शुरू हो गई है। यह स्थिति प्रभावशाली वर्ग के प्रभुत्व को नैतिक-बौद्धिक वर्चस्व (हेजेमनी) का रूप नहीं लेने दे रही है। इस तरह बहुल-आधुनिकताओं के लबादों में लिपटे समकालीन भारत में प्रभुत्व तथा प्रतिरोध के द्वंद्वात्मक अंतर्संबंधों की धुरी पर, आधुनिक भारतीय समाज, 'सतह से उठता हुआ' (मुक्तिबोध के शब्दों में) साफ नजर आ रहा है तथा मेरे दृष्टिकोण में आधुनिकता का उत्तर-औपनिवेशिक भारतीय सामाजिक-राजनैतिक सांस्कृतिक जीवन पर यही सबसे महत्वपूर्ण प्रभाव है, जिसके दूरगामी परिणाम होंगे।

संदर्भ

1. अमर्त्य सेन (2001) 'व्हाट इज द आइडिया ऑफ इंडिया': द्वितीय दोराब टाटा स्मारक व्याख्यानमाला: इंडियन एक्सप्रेस, नई दिल्ली

2. एंथनी गिड्डेन्स: 1990: कॉन्सिक्वेंसेज ऑफ मॉडर्निटी, पॉलिटी प्रेस: कैंब्रिज, इंग्लैंड

3. अंतोनियो ग्राम्शी (1971): सलेक्शन्स फ्राम द प्रिजन नोटबुक्स लंदन: लॉरेंस एंड विशर्ट

4. दीपंकर गुप्त (2000): मिस्टेकन मॉडर्निटी: इंडिया बिट्वीन वर्ल्ड्स, हार्पर कॉलिन्स: नई दिल्ली

5. सुनील खिलनानी (2001): (अनुवाद अभय कुमार दुबे): भारतनामा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली